©

97

भारत सरकार

विधि और न्याय मंत्रालय

भारत का विधि आयोग

97 वीं रिपोर्ट

भारतीय संविदा अधिनियम, 1872

(धारा 28)

संविदाओं में चिरभोग खण्ड

1986

प्रबन्धक, भारत सरकार मुद्रणालय, कोयम्बत्तूर द्वारा मुद्रित तथा प्रकाशन-नियंत्रक, भारत सरकार, सिविल लाइन्स, दिल्ली-110 054 द्वारा प्रकाशित।

मूल्यः (देश में) : रु० 19.50 या (विदेश में) : £ 2.28 या $ 7.02

भारत का विधि आयोग – 97वीं रिपोर्ट का शुद्धिपत्र

पृष्ठ सं०	खण्ड	पंक्ति	के स्थान पर	पढ़ें
1	1.2	9	असंगतियों	असंगतियां
2	2.4	3	समपहरित	समपहृत
3	पाद-टिप्पण 9	1	रामजी करमजी	रणजीत करमजी
4	2.5	6	किन्तु यदी	किन्तु यदि
4	2.6	9	पर रिपोट	पर रिपोर्ट
4	57. under Cl. 2.6	1	divergance	divergence
8	3.4	2	केरल के एफ मामले	केरल के एक मामले
8	3.4	3	में के एल खण्ड	में के एक खण्ड
8	3.4	5	उपस्थिति हुआ	उपस्थित हुआ
8	3.4	16	समपहृत	समपहृत
8	3.6, पार्श्व शीर्ष	2	अवश्य–	आवश्य–
8	3.7	2	वर्णित करणों	वर्णित कारणों
9	3.8 (1)	1	और ऐसे	और ऐसी
9	3.8 (3)	3	बर्शेत	बशर्ते
9	पाद-टिप्पण 1	1	वर्मा फायर एण्ड मेरिज	बर्मा एयरो एण्ड मेरिन
9	पाद-टिप्पण 2	1	ए०आई०आर० 1914	ए०आई०आर० 1924
10	3.10	4	प्रतिषिद	प्रतिषिद्ध
10	3.10	4	की प्रत्यक्षा	की प्रत्यक्ष
10	3.11, दूसरा पैरा	4	संबंद्ध	संबंध
10	पाद-टिप्पण 4	1	एम०पी० 250,	एच० पी० 350,
11	3.12, पार्श्व शीर्ष	1	अमेरीकन	अमेरिकन
11	3.12	6	ऐसे	ऐसी
11	3.12, दूसरा पैरा	16	तक देगा।	तर्क देगा।
11	पाद-टिप्पण 1	1	हर्टफोर्ट	हर्टफोर्ड
13	4.5	2	सामन्य	सामान्य
15	5.1	3	ज्ञानव	ज्ञान
15	5.1	12	क	का
15	5.2	2	पुनरूकित	पुनरूक्ति

न्यायमूर्ति के०के०मैथ्यू

अ०स०सं०2[10]/83-वि०आ०
अध्यक्ष
विधि आयोग
भारत सरकार
नई दिल्ली
तारीख 31, मार्च, 1984

प्रिय मंत्री महोदय,

मैं इसके साथ धारा 28, भारतीय संविदा अधिनियम, 1872 संविदाओं में के निर्बापन खण्ड, पर विधि आयोग की सतानवें वी रिपोर्ट भेज रहा हूँ।

विधि आयोग ने यह विषय स्वप्रेरणा से चुना था। इस विषय पर कार्य आरंभ करने की आवश्यकता को रिपोर्ट के पैरा 1.1 में स्पष्ट किया गया है।

आयोग श्री पी० एम० बख्शी, अंशकालिक सदस्य और श्री ए० के० श्रीनिवासमूर्ति, सदस्य सचिव का आभारी है जिन्होंने इस रिपोर्ट को तैयार करने में अपना बहुमूल्य सहयोग प्रदान किया।

सादर,

आपका
ह०/-
[के० के० मैथ्यू]

श्री जगन नाथ कौशल,
विधि, न्याय और कंपनी कार्य मंत्री,
नई दिल्ली
संलग्न सतानवें वी।

विषय-वस्तु

अध्याय—1	प्रारंभिक	1
अध्याय—2	विद्यमान विधि	2
अध्याय—3	विद्यमान विधि के अवगुण	7
अध्याय—4	कार्य-पत्रक (वर्किंग पेपर) पर प्राप्त टीका-टिप्पणियां	13
अध्याय—5	सिफारिशें	15

अध्याय 1

प्रारम्भिक

उत्पत्ति और विस्तार।

1.1 इस रिपोर्ट में वर्तमान भारतीय विधि में संविदाओं में के चिरभोग खंडों (विनिर्दिष्ट कालावधि का अवसान होने पर किसी संविदा के अधीन अधिकारों के निर्वापन संबंधी खण्ड) के सम्बन्ध में व्याप्त असंगत स्थिति के संबंध में विचार किया गया है। आगामी पैराओं में उपदर्शित किये गये कारणों से इस विषय में तुरन्त सुधार किया जाना अपेक्षित है। यह बिन्दु भारतीय संविदा अधिनियम, 1872[1] की धारा 28 से प्राथमिकतः संबंधित है। यह विषय आर्थिक न्याय, उपभोक्ताओं की कठिनाइयों के परिवर्जन और विधि की सुनिश्चितता और समरूपता की दृष्टि से अत्यधिक महत्व का है। अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण होने के कारण और वर्तमान विचार प्रणाली से संबद्धता के कारण इस विषय पर विचार करने हेतु विधि आयोग स्वयं ही अग्रसर हुआ है।

विचारार्थ बिन्दु।

1.2 संक्षेप [2]में इस बिन्दु के बारे में यह कहा जा सकता है कि भारतीय संविदा अधिनियम, 1872 की धारा 28 के अधीन कोई भी ऐसा करार उस सीमा तक शून्य होगा जहां तक कि उसमें उस कालावधि को परिसीमित किया गया है जिसके कि भीतर करार का कोई पक्षकार न्यायालय में कार्यवाहियों के द्वारा संविदा के अधीन अपने अधिकारों को प्रवर्तित करा सकेगा। किन्तु यह धारा चिरभोग प्रकृति के किसी करार को अविधिमान्य नहीं बनाती है, अर्थात् कोई भी ऐसा करार जिसमें यह उपबन्ध है कि विनिर्दिष्ट कालावधि की समाप्ति पर तद्धीन अधिकारों को यदि प्रवर्तित नहीं कराया जाता है, तो वे अधिकार समाप्त हो जाएंगे। जैसा कि इस रिपोर्ट[3] के आगामी अध्याय में विस्तारपूर्वक ब्यौरे देते हुए स्पष्ट किया जाएगा, यह स्थिति गंभीर असंगतियों और कठिनाइयां सृजित करती है और साथ ही इससे अनावश्यक मुकदमेबाजी भी है। प्रथमदृष्टया आयोग को यह प्रतीत हुआ कि इस धारा में इस बिन्दु पर सुधार किया जाना आवश्यक हो गया है। इस धारा के संशोधन के पक्ष और विपक्ष में तर्क बाद में दिए जाएंगे। वर्तमान में, यह कहना ही पर्याप्त होगा कि यह समस्या एक अत्यधिक महत्व की व्यवहारिक समस्या है, कारण कि कारबार के अनुक्रम में किये जाने वाले करारों में ऐसी शर्तें हमेशा पाई जाती हैं।

कार्य-पत्रक।

1.3 इस प्रक्रम पर यह कहा जा सकता है कि इस रिपोर्ट की विषय-वस्तु पर, आयोग ने विवाद्य प्रश्नों का अध्ययन करने के पश्चात्, एक कार्य-पत्रक हितबद्ध व्यक्तियों और निकायों[4] के विचारों का निष्कर्ष निकालने हेतु तैयार किया था। इस कार्य-पत्रक को उच्च न्यायालयों, राज्य सरकारों, वाणिज्य-मण्डलों और तत्सम व्यापारी संस्थाओं के संगमों और भारत सरकार के विधि मंत्रालय के विधायी विभाग को सम्मिलित करते हुए अन्य हितबद्ध व्यक्तियों और निकायों के बीच परिचालित किया गया। आयोग उन सबका आभारी है जिन्होंने कार्य-पत्रक पर अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए उत्तर भेजकर उसे अनुग्रहित किया। प्राप्त टीका-टिप्पणियों का सार इस रिपोर्ट के आगामी अध्याय[5] में दिया जाएगा। इस प्रक्रम पर इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि प्रबन्ध-पत्र पर प्राप्त टीका-टिप्पणियों में प्रायः सभी इस बात से सहमत थे कि रिपोर्ट में परिकल्पित आधारों पर इस विधि का संशोधन किया जाना आवश्यक है।

---

1. अधोलिखित पैरा 1–2, और अधोलिखित अध्याय 2।
2. ब्यौरेवार विचार विमर्श के लिए देखिये अधोलिखित अध्याय 2 और 3।
3. अधोलिखित अध्याय 2–3।
4. संविदाओं में चिरभोग खण्ड : भारतीय संविदा अधिनियम, 1872 की धारा 28 पर कार्य-पत्रक, तारीख 14 सितम्बर, 1983।
5. अधोलिखित अध्याय 4 देखिए।

अध्याय 2

विद्यमान विधि

समस्या ।

2.1 वह समस्या जिससे यह रिपोर्ट संबंधित है, भारतीय संविदा अधिनियम, 1872 की धारा 28 के कारण उद्भूत होती है। हम इस अध्याय में इस धारा और उसके आशय के बारे में परीक्षण करना प्रस्तावित करते हैं।

संविदा अधिनियम की धारा 28 ।

2.2 भारतीय संविदा अधिनियम, 1872 की धारा 28 में निम्नानुसार उपबन्ध है :—

> "हर करार, जिससे उसका कोई पक्षकार किसी संविदा के अधीन या बारे में अपने अधिकारों को मामूली अधिकरणों में प्रायिक विधिक कार्यवाहियों द्वारा प्रवर्तित कराने से आत्यन्तिकत: अवरुद्ध किया जाता हो या जो उस समय को, जिसके भीतर वह अपने अधिकारों को इस प्रकार प्रवृत्त करा सकता है परिसीमित कर देता हो, उस विस्तार तक शून्य है।"

(धारा के अपवाद सारवान न होने से उल्लिखित नहीं किए गए हैं)।

इस धारा के दो अपवाद हैं जो वर्तमान प्रयोजन के लिए सारवान नहीं हैं। उनमें विवादों को माध्यस्थम् के लिए निर्दिष्ट किए जाने संबंधी करारों के बारे में विचार किया गया है।

धारा 28 का प्रभाव ।

2.3 संविदा अधिनियम[1] की धारा 28 का प्रभाव (जहां तक कि वह इस रिपोर्ट की विषय-वस्तु से संबंधित है) इस विषय से संबंधित निर्णयविधि[2] के आधार पर दो प्रतिपादनों के रूप में कथित किया जा सकता है, प्रथमत:—

(क) करार के पक्षकारों के लिए यह अनुज्ञात नहीं है कि वे परिसीमा की साधारण विधि में अधिकथित कालावधि के स्थान पर अपनी स्वयं की परिसीमा कालावधियां प्रतिस्थापित करें।

(ख) किन्तु किसी करार के पक्षकारों को यह अनुज्ञात है कि वे अपने स्वयं की चिरभोग कालावधियों को प्रतिस्थापित करें अर्थात् वे इस बात के लिए स्वतंत्रतापूर्वक उपबन्ध कर सकते हैं कि यदि कोई पक्षकार विनिर्दिष्ट कालावधि के भीतर वाद नहीं लाता है, तो संविदा के अधीन प्रोद्भूत होने वाले अधिकार समपहृत हो जाएंगे या निर्वापित हो जाएंगे या कोई पक्षकार संविदा के अधीन समस्त दायित्वों से उन्मोचित हो जाएगा। (प्रयुक्त किए गए यथावत शब्द एक करार से दूसरे करार में भिन्न हो सकते हैं किन्तु उनका सार अधिकारों का प्राय: समपहरण या निर्वापन होता है)। दूसरे शब्दों में, वह खण्ड जो उपचार के लिए दी गई अवधि को परिसीमित करता है, प्रतिषिद्ध है, किन्तु ऐसी अवधि को, जिस तक अधिकार बने रहेंगे, सीमित करने वाला और ऐसी कालावधि की समाप्ति पर उन अधिकारों को निर्वापित करने वाला खण्ड अनुज्ञेय है। हम बाद में दिये गये प्रतिपादनों से संबंधित हैं और हमारा उद्देश्य इस बात का परीक्षण करने से है कि क्या वह न्याय और तर्क संगत है और व्यवहार में लाभप्रद है।

---

1. ऊपर वर्णित पैरा 1.2।
2. देखिए अधोलिखित पैरा 2.4 और अधोलिखित पैरा 3.4 और पैरा 3.5 में चर्चित विधि।

2.4 प्रथमतः, हम ऐसे कुछ मामलों के प्रति निर्देश करेंगे जो वर्तमान स्थिति के प्रवर्तन के दृष्टांत स्वरूप हैं। एक मामले में, जो कि उच्चतम[1] न्यायालय तक चला था, बीमा पालिसी के एक खण्ड में यह उपबन्ध था कि बीमा पालिसी के अधीन समस्त लाभ समपहरित हो जाएंगे यदि विनिर्दिष्ट कालावधि के भीतर कोई वाद नहीं लाया जाता है। इस खण्ड को विधिमान्य ठहराया गया। निर्णय में, उच्च-न्यायालय के उन विनिश्चयों को अभिव्यक्त रूप से अनुमोदित किया गया है जिनमें समान दृष्टिकोण अपनाया गया था जिनमें इस[2] विषय पर प्रायः उद्धरित बम्बई का मामला भी सम्मिलित है। दृष्टान्तस्वरूप मामले।

अनेकों[3-8] उच्च-न्यायालयों के विनिश्चय भी हैं जिनमें समान दृष्टिकोण अपनाया गया है।

इन मामलों में यह ठहराया गया है कि केवल उसी दशा में संविदा अधिनियम की धारा 28 प्रवर्तित होती है जबकि परिसीमा की किसी कालावधि को कम किया जाता है जैसा कि बम्बई के मामले में विचार व्यक्त किया गया है :—

"It (section 28) does not come into operation when the (contractual) term spells out an extinction of the right of the plaintiff to sue or spells out the discharge of the defendants from all liability in respect of the claim."

[वह (धारा 28) तब प्रवर्तित नहीं होती जबकि (संविदात्मक) निबन्धन वादी के वाद लाने के अधिकार का निर्वापन स्पष्ट शब्दों में कथित करते हैं या प्रतिवादियों का उस दावे[9] से संबंधित समस्त दायित्वों से उन्मोचन स्पष्ट रूप से कथित करते हैं।]

2.5 इन विनिश्चयों में अन्तर्निहित तर्क यह है कि धारा 28 उन करारों को प्रतिषिद्ध करने के लिए उद्दिष्ट है जो केवल तब तक प्रवृत्त रहेंगे जब तक कि वे अधिकार विद्यमान[10] रहते हैं। यह धारा केवल निम्नलिखित के लिए उद्दिष्ट है— तर्क।

(क) किसी भी समय वाद न लाने की प्रसंविदा; और

(ख) किसी परिसीमित कालावधि के पश्चात् वाद न लाए जाने की प्रसंविदा।

अतः किसी संविदा में की वह शर्त, जो समस्त लाभों के समपहरण का उपबन्ध करती है, जब तक कि विनिर्दिष्ट कालावधि के भीतर कोई कार्रवाई नहीं की जाती है, इस धारा का अतिलंघन नहीं करती है। स्वयं संविदा के अनुसार वे अधिकार, जो किसी पक्षकार के पक्ष में उद्भूत होते, संविदा में उपबंधित कालावधि का अवसान होने पर अस्तित्व में नहीं रहेंगे। धारा 28 द्वारा वही करार प्रभावित होता है जिसमें यह उपबन्ध किया गया है कि उपचार का त्यजन उसी दशा में होगा जबकि कोई वाद यदि फाइल किया जाता है, तो उसे

---

1. व्हल्कन इन्शोरन्स कंपनी विरुद्ध महाराजसिंह ए० आई० आर० 1976 सुप्रीम कोर्ट पृष्ठ 287–294।
2. बड़ौदा स्पीनिंग एण्ड वीविंग कंपनी विरुद्ध सत्यनारायण मेरीन इंश्योरेन्स कंपनी ए० आई० आर० 1914 बम्बई, 223 जो शकूर विरुद्ध हिन्द एण्ड कंपनी ए० आई० आर० 1932 बंबई 330 में अनुसरित किया गया।
3. गिरधारीलाल विरुद्ध ईगल स्टार इन्शोरेन्स कंपनी (1923) 27 सी० डब्ल्यू० एन० 955 ए० आई० आर० 1924 कलकत्ता 186।
4. न्यू० इंडिया इन्शोरेन्स कंपनी विरुद्ध आर० एम० खण्डेलवाल ए० आई० आर० 1974 बंबई 228।
5. घोष विरुद्ध रिलायन्स इन्शोरेन्स कंपनी प्रा० लि० आई० एल० आर० 11 रंगून 475।
6. एन० डी० एम० सी० विरुद्ध तीरथराम ए० आई० आर० 1980 दिल्ली 185, 187, पैरा 7।
7. रूबी जनरल इन्शोरेन्स कंपनी विरुद्ध भारत बैंक ए० आई० आर० 1950 ई० पी० 852।
8. अधोलिखित पैरा 3.4 और 3.5 भी देखिए।
9. रामजी करमजी विरुद्ध यूनिक मोटर इंशोरेन्स कंपनी ए० आई० आर० 1951 बम्बई 347, 352।
10. बड़ौदा स्पिनिंग मिल्स विरुद्ध सत्यनारायण मरीन इन्शोरेस कंपनी ए० आई० आर० 1914 बम्बई 225(2) जो शकूर विरुद्ध हिन्द एण्ड कंपनी ए० आई० आर० 1932 बम्बई 330 में अनुसरित किया गया।

विनिर्दिष्ट समयावधि के भीतर ही फाइल किया जाना चाहिए (समयावधि परिसीमा अधिनियम में उपबंधित परिसीमा कालावधि से अल्पतर होगी) । ऐसे खण्ड के अधीन यद्यपि प्रोद्भूत अधिकार समय सीमा के परे भी बने रहते हैं और निर्वापित नहीं हो जाते फिर भी, वाद लाने की उस अवधि को परिसीमित किया जाता है जो परिसीमा अधिनियम द्वारा विहित की गई है। यह ऐसा खण्ड है जिसे धारा 28 के कारण शून्य माना जाता है। किन्तु यदी अधिकार अपने आप ही (संविदात्मक खण्ड के अधीन यथा विशद रूप से वर्णित) निर्वापित हो जाते हैं, तो परिसीमा विधि का कोई अतिलंघन नहीं होता है। इस विशिष्टता का कहां तक समर्थन किया जा सकता है या उसे किस हद तक कार्यान्वित किया जा सकता है इसी विषय पर हम वर्तमान में विचार करेंगे।

रिपोर्ट में संविदा अधिनियम के बारे में विचार विमर्श ।

2.6 वर्तमान स्थिति के परिणामस्वरूप होने वाली कठिनाइयों और अन्याय के संबंध में आगामी अध्याय में विचार किया जाएगा। आगामी अध्याय की ओर बढने के पूर्व यह उल्लेख करना उचित ही होगा कि अब विचाराधीन प्रश्न अर्थात् वर्तमान स्थिति द्वारा कारित कठिनाई और अन्याय के बारे में उस समय विचार नहीं किया गया जबकि विधि आयोग को संविदा अधिनियम के बारे में कार्यवाही करने का अवसर था। उस समय अधिनियम की धारा 28 पर विचार करते समय आयोग ने केवल एक सीमित प्रश्न का ही परीक्षण किया अर्थात् एक विशिष्ट बिन्दु पर विनिश्चयों में विरोध, जो बीमा पालिसियों में समयावधि के खण्डों तक ही संसीमित था। आयोग के लिए इस बात का कोई अवसर नहीं था कि वह धारा 28 पर रिपोर्ट किये गये मामलों का सर्वेक्षण यह विनिश्चित करने के लिए करता कि क्या आर्थिक न्याय की दृष्टि से धारा 28 में कोई सारवान परिवर्तन किया जाना आवश्यक था। यहां संविदा अधिनियम[1] पर आयोग की रिपोर्ट से उद्धृत संबंधित अंश दिया जाता है—

"57. Decided cases reveal a divergance of opinion *in relation to certain clauses of insurance policies* with reference to the applicability of this section. On examination it would appear that these cases do not really turn on the interpretation of the section, but hinge on the construction of the insurance policies in question. The principle itself is well recognised that an agreement providing for the relinquishment of rights and remedies is valid, but an agreement for relinquishment of remedies only *falls within the* mischief of section 28. Thus, in our opinion, no change is called for *by reason of the aforesaid conflict of judicial authority*."

[57. विनिश्चित मामले यह प्रकट करते हैं कि इस धारा के लागू किए जाने के संदर्भ में बीमा पालिसियों के कतिपय खण्डों के बारे में राय की भिन्नता है। परीक्षण करने पर यह प्रकट होगा कि इन मामलों का झुकाव वास्तव में इस धारा के अर्थान्वयन की ओर नहीं है किन्तु वे प्रश्नगत बीमा पालिसियों की रचना पर निर्भर करते हैं। यह सिद्धान्त कि अधिकारों और उपचारों के निर्वापन का उपबन्ध करने वाला करार विधिमान्य है, किन्तु ऐसा कोई करार, जिसमें केवल उपचारों के निर्वापन के उपबन्ध हों, वह धारा 28 की रिष्टि के अन्तर्गत आता है, अपने आप में एक मान्य सिद्धान्त है। अतः हमारी राय में, न्यायिक प्राधिकार की उपर्युक्त प्रतिबन्धिता के कारण कोई भी परिवर्तन आवश्यक नहीं है।]

वाहक अधिनियम, 1865 से संबंधित उच्चतम न्यायालय का निर्णय ।

2.7 वर्तमान विचार—विमर्श का संबंध उन विशेष अधिनियमों से नहीं है जिनमें कतिपय व्यक्तियों के दायित्वों की उद्घोषणा या उनके विरुद्ध विधिक कार्यवाहियों की संस्थापना का विनियमन करने वाले विस्तृत उपबंध अन्तर्विष्ट है। ऐसा एक विशेष अधिनियम [2]वाहक अधिनियम, 1865 है जिसकी धारा 10 में निम्नानुसार उपबन्ध है :—

"10. किसी सामान्य वाहक के विरुद्ध कोई वाद, वहन के लिए उसको सौंपे गए माल के खोने या उसको हुई क्षति के लिए तब तक संस्थित नहीं किया जाएगा जब तक ऐसे वाद के संस्थित किए जाने के पहले उसको ऐसे खोने या क्षति की

1. भारत के विधि आयोग की तेरहवीं रिपोर्ट (भारतीय संविदा अधिनियम, 1872) पृष्ठ 27 पैरा 57 (सितम्बर 1958)

2. वाहक अधिनियम, 1865 की धारा 10 ।

लिखित सूचना वादी की जानकारी में ऐसा खोना या क्षति पहली बार आने के समय से छह मास के अन्दर नहीं दी गई हो।

[1]हाल ही में, उच्चतम-न्यायालय से यह प्रश्न विनिश्चित करने की अपेक्षा की गई थी कि क्या किसी मार्ग-पत्रक में का संविदात्मक खण्ड जिसका आशय वाहक अधिनियम (जो ऊपर कथित किया गया है), की धारा 10 के उपबन्धों से कतराना है, विधिमान्य माना जाएगा। मार्ग-पत्रक में की शर्त निम्नानुसार थी :—

"15. No suit shall lie against the firm in respect of any consignment without a claim made in writing in that behalf and preferred within thirty days from the date of booking, or from the date of arrival at the destination by the party concerned.

(15. किसी परेषण के संबंध में किसी फर्म के विरुद्ध कोई वाद संबंधित पक्षकार द्वारा इस निमित्त किए गए ऐसे दावे के सिवाय जो बुक किये जाने की तारीख या गंतव्य स्थान पर आगमन की तारीख से 30 दिन के भीतर प्रस्तुत किया गया हो, नहीं लाया जाएगा।)

यह ठहराया गया कि उक्त शर्त वाहक अधिनियम, 1865 की धारा 10 को विफल करने के लिये आशयित थी और इस कारण वह संविदा अधिनियम की धारा 23 के अधीन शून्य थी। उच्चतम न्यायालय के अनुसार ऐसी शर्त को अनुज्ञात करने का यह परिणाम होगा कि उस मामले में भी, जिसमें हानि या क्षति की लिखित सूचना वाद संस्थित करने के पूर्व और हानि या क्षति वादी की जानकारी में आने से छह मास के भीतर (जिसके द्वारा वाहक अधिनियम की धारा 10 का समाधान कर दिया गया हो), दे दी गई है, संविदात्मक शर्त फिर भी पूरी नहीं होगी और वाद उस कारण वर्जित हो जाएगा। इस प्रकार धारा 10 विफल हो जाएगी। न्यायालय ने, धारा 10 का इस प्रकार अर्थान्वयन करने के प्रयोजन के लिए, इस बात पर बल दिया कि वाहक अधिनियम, वाहकों का दायित्व घोषित करने के लिए (न कि उनके दायित्व को केवल सीमित करने के लिये) अधिनियमित किया गया था। न्यायालय की दृष्टि में ऐसे सौदे को जो विधि द्वारा यथा अधिनियमित वाहकों के दायित्व को विफल कर देगा, विधि के उपबंधों को विफल कर देने वाला समझा जाना चाहिए। न्यायालय ने इस तथ्य पर भी बल दिया कि संविदा में की शर्त द्वारा यह अनुबंधित किया गया था कि सूचना या तो गन्तव्य स्थान पर माल पहुंचने की तारीख से या माल बुक करने की तारीख से दी जाए। प्रथम घटना (माल पहुंचने की) अधिकांशतः, माल के स्वामियों को ज्ञात नहीं रहती—यह एक ऐसा दृष्टिकोण है, जो उच्चतम न्यायालय के अनुसार, वाहक अधिनियम की धारा 10 के सही अर्थान्वयन के लिए सुसंगत था। इस संदर्भ में, न्यायालय ने कनाडा के[2] मामले से प्रिवी काउन्सिल में की गई एक अपील में लार्ड मेकनेटन के कथन के प्रति निर्देश किया, जिसमें यह अभिकथित किया गया था कि किसी इन्श्योरेन्स पालिसी में समय सीमा संबंधी खण्ड, जो कालावधि की संगणना हानि की तारीख से करता है, भले ही युक्तियुक्त हो सकता है (कारण कि जिसका बीमा किया गया है वह सदैव यह जान सकता है कि हानि कब हुई) फिर भी, किसी पुनर्बीमा पालिसी में असावधानीपूर्वक इस प्रकार के खण्ड के सम्मिलित किए जाने को निश्चयपूर्वक यह समझा जाना चाहिए कि वह खण्ड लागू नहीं होगा क्योंकि उस व्यक्ति का, जिसका पुनः बीमा किया गया है, हानि[3] से कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं होगा।

जहां तक बुकिंग की तारीख से कालावधि की संगणना करने का प्रश्न है, जो कि संविदात्मक शर्त में द्वितीय पर्यायवाची घटना के रूप में वर्णित है, न्यायालय ने यह इंगित किया कि वह

1. एम० जी० ब्रदर्स लारी सर्विस विरुद्ध प्रसाद टेक्सटाइल्स (सिविल अपील क्रमांक 954-959 सब 1978) जो 28 अप्रैल, 1983 को उच्चतम न्यायालय द्वारा विनिश्चित की गई, डी० पी० मदन और सव्यसाची मुखर्जी, न्यायाधिपतिगण।
2. होम इंश्योरेन्स कंपनी विरुद्ध विक्टोरिया मान्ट्रियल फायर इंश्योरेन्स कंपनी (1907) ए० सी० 59, 64 (प्रिवी कांउन्सिल)।
3. निम्नलिखित पैराग्राफ 3.10 में इस मामले के प्रति पुनः निर्देश किया जाएगा।

निरूपयोगी है कारण कि जब तक हानि या नुकसान नहीं होता है तब तक कोई दायित्व उद्भूत ही नहीं होगा।

संविदा अधिनियम की धारा 28 उच्चतम न्यायालय के समक्ष विवाध्य विषय नहीं थी।

2.8 यहां यह भी उल्लेखनीय है कि उच्चतम न्यायालय के उक्त निर्णय द्वारा यह नहीं ठहराया गया था कि संविदात्मक शर्त संहिता अधिनियम की धारा 28 का उल्लंघन करती है। विचारण न्यायालय तथा प्रथम अपील न्यायालय ने यह ठहराया था कि ऐसी शर्त धारा 28 का उल्लंघन नहीं करती है और इस दृष्टिकोण के प्रति उच्च न्यायालय में कोई आक्षेप नहीं किया गया और न ही उच्चतम न्यायालय के समक्ष गंभीरता से आक्षेप किया गया। आगे उच्चतम न्यायालय ने इस बिन्दु पर निम्नानुसार विचार अभिव्यक्त किया :—

"It also appears to us that neither there is restriction absolutely from enforcing rights by the usual legal proceedings nor limitation of the time within which such rights might be enforced in the instant case, but condition 15 *was only* intended to defeat or by pass the provisions of section 10 of the Carriers Act."

(हमें यह भी प्रतीत होता है कि सामान्य विधिक कार्यवाहियों द्वारा अधिकारों को प्रवर्तित करने के लिए पूर्ण रूप से न तो कोई निर्बन्धन है और न ही कोई समय सीमा है जिसके भीतर वर्तमान मामले में ऐसे अधिकारों का प्रवर्तन किया जा सकता किन्तु शर्त क्रमांक 15 का एक मात्र आशय वाहक अधिनियम की धारा 10 के प्रावधानों को विफल कर देना या उनसे कतराना था।)

अध्याय 3

विद्यमान विधि के दोष

वर्तमान स्थिति के अधीन असंगति और कठिनाई।

3.1 पूर्ववर्ती पैराओं में वर्णित विद्यमान विधिक स्थिति का सूक्ष्म सारांश यह दर्शाता है कि "उपचार" और "अधिकार" के बीच विभेद का अस्तित्व मान लिया गया है और वह विभेद ही वर्तमान स्थिति का आधार है जिसके अधीन किसी उपचार का वर्जन करने वाला खण्ड तो शून्य है, किन्तु अधिकारों का निर्वापन करने वाला खण्ड विधिमान्य है। सिद्धान्ततः, यह दृष्टिकोण भले ही ठीक हो तथापि, व्यवहार में इससे अधिक कठिनाई होती है और उसका इस प्रकार दुरुपयोग किया जा सकता है जिससे आर्थिक न्याय का उद्देश्य ही विफल हो जाए। ऐसे संविदात्मक खण्ड सामान्यतः वहां अंत:स्थापित किए जाते हैं जहां कि पक्षकार सौदा करने के बारे में समान स्थिति में न हों। किसी करार में, ऐसे खण्ड के रूप में और उस आशय का उपबंध करते हुए जो अधिकारों का निर्वापन करता हो, वह पक्षकार, जो सौदा करने के बारे में अधिक अच्छी स्थिति में है, (उपचार को मात्र वर्जित करते हुए) जिस उद्देश्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता, उसे प्राप्त करने की स्थिति में आ जाता है। दूसरे शब्दों में वर्तमान विधि के अधीन अधिक स्वाभाविक और गंभीर परिणाम-अधिकारों का निराकरण-अनुज्ञेय हो जाता है जबकि कम गंभीर युक्ति, मात्र उपचार का निर्वापन अनुज्ञेय हो जाता है। प्रथम दृष्टया, ऐसी स्थिति अत्यंत असंगतिपूर्ण प्रतीत होती हैं। अधिकार के निर्वापन के लिये उपबन्ध करने के द्वारा पक्षकार वास्तव में अपने स्वयं की चिरभोग विधि सृजित करते हैं जो कि केवल स्वयं की परिसीमा विधि सृजित करने की अपेक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण विषय है।

यदि विधि द्वारा यह अनुज्ञात न हो कि करार द्वारा पश्चातवर्ती परिणाम अधिरोपित किया जाए, तो निश्चयपूर्वक विधि द्वारा यह भी अनुज्ञात नहीं होना चाहिए कि करार द्वारा पूर्ववर्ती परिणाम भी अधिरोपित किया जाए।

चिरभोग खण्ड और संविदा की स्वतंत्रता।

3.2 वर्तमान स्थिति के समर्थन में यह तर्क दिया जा सकता है कि उन मूल अधिकारों के संबंध में, जो स्वयं संविदा से उद्भूत होते हैं, संविदा के अनुसार ही कार्यवाही की जा सकती है किन्तु हम इस तर्क से प्रभावित नहीं हैं। उपचार का वर्जन केवल विधिक पद्धति के गुणवाचक भाग को ही प्रभावित करता है जबकि अधिकार के निर्वापन से गंभीर प्रकार की कठिनाई और अन्याय हो सकता है। यह समझना कठिन है कि पक्षकारों को चिरभोग के अपने स्वयं के नियमों को ईजाद करने के लिये क्यों अनुज्ञात किया जाना चाहिए जबकि उन्हें उससे कुछ कम महत्व के परिसीमा संबंधी अपने स्वयं के नियमों को ईजाद करने के लिये अनुज्ञात नहीं किया जाता है। यह स्थिति प्रथम दृष्टया तर्कहीन है, और हम ऐसी किसी प्रतिरोधी या अभिभावी बात के बारे में नहीं सोच सके हैं जो इस तर्कहीनता को न्यायोचित ठहरा सके।

वर्तमान भ्रमित दृष्टिकोण ने इस कारण से जड़ जमा ली है क्योंकि इस बात की अनदेखी की गई है कि परिसीमा और चिरभोग दोनों ही एक समान परिस्थिति-समय के चलते रहने का परिणाम है। वास्तव में परिसीमा अधिनियम केवल परिसीमा तक ही सीमित नहीं है। कतिपय परिस्थितियों में उसमें चिरभोग के लिये भी उपबंध है।

संविदा की स्वतंत्रता और उसकी सीमाएं।

3.3 इसके अतिरिक्त इस विषय पर वास्तव में एक विस्तृत परिप्रेक्ष्य में विचार किया जाना चाहिए कि पक्षकारों को संविदा के बारे में कितनी स्वतंत्रता अनुज्ञात की जाय। यदि संविदात्मक खण्ड के कारण गंभीर कठिनाई और अन्याय होता है, तो समाज के हित में ऐसी स्वतंत्रता में कमी कर देना चाहिए। वास्तव में, इस दृष्टिकोण में कोई नवीनता नहीं है। प्रश्न केवल, उसे उस विषय पर लागू किये जाने से है, जो अब विचाराधीन है।

केरल का मामला जो कि वास्तविक कठिनाई का एक उदाहरण है।

3.4 ऊपर निर्दिष्ट कठिनाई और अन्याय केवल कल्पना लोक में ही वास करते हैं ऐसा नहीं है। केरल के एफ मामले[1] से ऐसी कठिनाई का वास्तविक दृष्टांत उपलब्ध होता है। उस मामले में, बैंक प्रत्याभूति में के एल खण्ड में यह प्रावधान था कि प्रत्याभूति के अधीन दावों को प्रवर्तित कराने के लिये कोई वाद या कार्रवाई, बैंक द्वारा दी गई प्रत्याभूति के अवसान होने की तारीख से छह मास के भीतर फाइल की जानी चाहिये। यह प्रश्न उपस्थिति हुआ कि क्या उक्त खण्ड, संविदा अधिनियम की धारा 28 के संदर्भ में विधिमान्य था? यह ठहराया गया कि वह विधिमान्य था। यह ठहराया गया था कि बैंक का दायित्व, प्रत्याभूति प्रवर्तित रहने की कालावधि का अवसान होने के पश्चात् केवल छह मास की कालावधि तक के लिये अस्तित्व में रहेगा और यह कि उस व्यक्ति के, जिसके पक्ष में प्रत्याभूति निष्पादित की गई थी, अधिकार उस कालावधि का अवसान होने पर निर्वापित हो गए। दूसरे शब्दों में, संविदा के अधीन वादी के अधिकार का निर्वापन और प्रतिवादियों का दायित्व से उन्मोचन हो गया था (बैंक और उसका प्रबंधक, जो बैंक की ओर से प्रत्याभूति का निष्पादक था, प्रतिवादी थे) अतः यह ठहराया गया कि संविदात्मक खण्ड द्वारा अधिरोपित समय सीमा, संविदा अधिनियम की धारा 28 से प्रभावित नहीं होती थी। इस प्रकार निकाले गये निष्कर्षों का निस्संदेह, पूर्व के विनिश्चयों से सामंजस्य है। किन्तु अन्य पक्षकार को ऐसे खण्ड के अधीन, जो किसी अवधि की समाप्ति पर अधिकारों को समपहृत करता है, अनुज्ञात ऐसी कम कालावधि से अवश्य ही कठिनाई पैदा होगी।

बम्बई का मामला।

3.5 हम बम्बई के एक मामले के प्रति निर्देश करना चाहेंगे जो पालिसी में शर्तों को सम्मिलित करने से संबंधित है (मशीन जोखिम बीमा पालिसी)। किसी कपटपूर्ण दावे के मामले में या दावे का निराकरण होने पर नियत समय के भीतर कोई कार्रवाई करने में असफल रहने की दशा में, समपहरण के बारे में एक शर्त थी। प्रथम प्रीमियम की रसीद में इस शर्त के प्रति कोई निर्देश नहीं किया गया था और न ही प्रथम प्रीमियम स्वीकार करने के पूर्व वह बात बीमाकृत की जानकारी में लायी गई थी। तथापि, यह ठहराया गया था कि यह शर्त विचाराधीन पालिसियों के वर्ग की एक सामान्य शर्त बन गई थी और वह बीमाकृत पर आबद्धकर थी। आगे यह भी ठहराया गया था कि यह शर्त संविदा[2] अधिनियम की धारा 28 का अतिक्रमण नहीं करती है।

आर्थिक न्याय के हित में सुधार की अवश्यकता।

3.6 निस्संदेह, ऐसे मामलों में अपनाया गया दृष्टिकोण विधिक स्थिति के बारे में साधारण समझ के अनुसार ही है और उस दृष्टिकोण को अपनाने वाले अन्य बहुत से विनिश्चय हैं जिनको प्रगणित करने की आवश्यकता नहीं है। तथापि, इस अध्याय के पूर्ववर्ती पैराओं में दिये गये व्यापक बिन्दुओं को दृष्टि में रखते हुए यह प्रतीत होगा कि आर्थिक और सामाजिक न्याय के हित में, इस विषय से संबंधित विधि में परिवर्तन करने की आवश्यकता है।

वर्तमान स्थिति से गंभीर कठिनाई उत्पन्न होती है। वर्तमान स्थिति के अधीन अधिकांश भुक्तभोगी ऐसे उपभोक्ता हैं जिन्हें बड़े व्यापारियों से लेनदेन करना पड़ता है। पक्षकारों की असमान स्थिति के कारण उपभोक्ता को अधिकारों का निर्वापन करने वाले खण्ड के बारे में, सहमत होना पड़ता है, किन्तु न्यायिक दृष्टिकोण से ऐसी स्थिति को समाधानकारक नहीं कहा जा सकता।

वर्तमान स्थिति के परिणामस्वरूप होने वाली अनिश्चितता।

3.7 चिरभोग संबंधी संविदात्मक खण्डों को भी अविधिमान्य करते हुए विधि का पुनरीक्षण (ऊपर वर्णित कारणों से) न केवल गुणागुण के आधार पर आवश्यक है बल्कि उससे विधि भी सरल हो जाएगी। वर्तमान में, प्रत्येक मामले में इस बाबत अतिसूक्ष्म विभेद करना होता है कि क्या कोई खण्ड केवल किसी उपचार को वर्जित करता है या अधिकार को ही समाप्त करता है। ऐसा विनिश्चय सूक्ष्म विभेद पर आधारित होता है जिसका लागू किया जाना

1. केरल इलेक्ट्रिकल एण्ड एलाईड इंजीनियरिंग कंपनी लिमिटेड विरुद्ध केनरा बैंक ए० आई० आर० 1980 केरल 151।

2. न्यू इंडिया एश्योरेन्स कंपनी विरुद्ध आर० एम० खण्डेलवाल ए० आई० आर० 1974 बम्बई 228।

आसान नहीं है, जिसके परिणामस्वरूप न्यायालयों में के वास्तविक मामलों में, दृष्टिकोण के बारे में संघर्ष के कारण पक्षकारों के मस्तिष्क में अनिश्चितता उत्पन्न हो जाती है। उदाहरणार्थ, यह ठहराया गया है कि किसी जीवन बीमा पालिसी में यह शर्त कि बीमाकृत की मृत्यु से एक वर्ष के पश्चात् पालिसी की बाबत कोई वाद नहीं लाया जाएगा, शून्य है। [1]परन्तु किसी अग्नि बीमा पालिसी में की यह शर्त कि हानि या नुकसान होने से बारह मास का अवसान होने के पश्चात् कंपनी हानि या नुकसान के लिये दायी नहीं होगी जब तक कि ऐसा दावा किसी लंबित कार्रवाई या माध्यस्थम की विषय वस्तु न हो, धारा 28 का [2] और [3] उल्लंघन नहीं करती।

वर्तमान स्थिति के न्यायोचित्य के बारे में धारणा।

3.8 हमें यह विचार करने में कठिनाई अनुभव हो रही है कि क्या वर्तमान स्थिति को न्यायोचित ठहराने के लिये कोई ठोस कारण है। इस सन्दर्भ में हमें वर्तमान दृष्टिकोण के समर्थन के रिपोर्ट किये गये मामलों में किसी समय दिये गये कारणों पर विचार करना चाहिए। पंजाब के एक मामले में, जिसमें संविदा में के चिरभोग खण्ड की विधिमान्यता मान्य की गई थी, उच्च न्यायालय ने अपने [4]निष्कर्ष के समर्थन में कतिपय आधार दिये हैं, जिन्हें निम्नानुसार संक्षेपित किया जा सकता है :—

(1) न्यायालय का प्राथमिक कर्तव्य किसी वचन का पालन कराना और ऐसे संविदाओं के, जो लोक नीति या विधिविरुद्ध न हों, उद्देश्य को मान्य करना।

(2) बीमा का उद्देश्य और अत्यावश्यकता इस प्रकार की है कि किसी दावे का प्राख्यान या प्रवर्तन करने में और उसका निपटारा करने में तत्परता दिखाना ही उसका मर्म है। अतः बीमा कंपनियों के लिये यह औचित्यपूर्ण होगा कि वे ऐसी समय सीमा निर्धारित करें जिसके भीतर दावे को प्रवर्तित किया ही जाना चाहिये, ऐसा करने में सफल रहने पर पालिसी के अधीन समस्त अधिकार समाप्त हो जाएंगे।

(3) चिरभोग खण्ड कानूनी कालावधि से भिन्न कोई परिसीमा कालावधि उपबंधित नहीं करता। तिस पर भी, बीमाकृत कानूनी कालावधि के अधीन कोई कार्रवाई कर सकता है बशर्ते कि कंपनी ऐसे खण्ड का अधित्यजन कर देती है।

(4) कतिपय परिस्थितियों में, संक्षिप्त के पर्यवसान के लिये स्वयं संविदा में उसके अपने उन्मोचन (अभिव्यक्त या विवक्षित) के तत्व समाहित हो सकते हैं।

(5) चूंकि ऐसा खण्ड उस समय को, जिसके भीतर बीमाकृत अपने अधिकारों को प्रवर्तित कर सकेगा, सीमित नहीं करता है बल्कि वह केवल उस समय को सीमित करता है जिसके भीतर संविदा बनी रहेगी, अतः वह संविदा अधिनियम की धारा 28 द्वारा प्रभावित नहीं होता है।

वर्तमान स्थिति के समर्थन में संभावित तर्कों पर किया गया विचार विमर्श।

3.9 इस समय विचाराधीन प्रश्न यह नहीं है कि क्या ऐसे खण्ड धारा 28 के अधीन विधिमान्य है? बल्कि यह है कि क्या न्याय के हित में वर्तमान स्थिति में सुधार की आवश्यकता है? हम उपरोक्त प्रतिपादनाओं पर विचार करेंगे, जहां तक कि उन पर इस बाबत निर्भर रहा जा सकता है कि वे वर्तमान स्थिति के न्यायोचित्य का समर्थन करती है। पंजाब निर्णय में की प्रथम प्रतिपादना जिसका [5] संक्षेप ऊपर दिया गया है, अब एक सामान्य कथन है, जो वास्तव में तर्कपूर्ण है। न्यायालय को ऐसे वचन को प्रवर्तित कराना चाहिये जो किसी विनिर्दिष्ट विधिक

1. जी० राजनेह विरुद्ध वर्मा फायर एण्ड मेरिज इन्श्योरेन्स कंपनी एं० आई० आर०, 1926 रंगून 3।
2. ए० एन० घोष विरुद्ध रिलायंस इन्श्योरेन्स कंपनी, ए० आई० आर० 1914 रंगून 15,16,17 आई० एल० आर० 11 रंगून, 475।
3. पर्ल इन्श्योरेन्स कंपनी विरुद्ध आत्माराम ए० आई० आर० 1960 पंजाब, 236, 240, 244 (फुल बैन्च) में उद्धरित अन्य मामले देखिए।
4. पर्ल इन्श्योरेन्स कंपनी विरुद्ध आत्माराम ए० आई० आर० 1960 पंजाब 237, 240, पैरा 9 (फुल बैंच) (न्यायमूर्ति ए० एन० ग्रोवर के अनुसार)।
5. पूर्व का पैरा 3.8।

उपबन्ध द्वारा शून्य न कर दिया गया हो। तथापित, यह प्रश्न फिर भी बना रहता है कि क्या ऐसे खण्ड फायदाप्रद या हानिप्रद हैं? इस सन्दर्भ में हमें [1]प्रतिपादना (2) की संवीक्षा करनी होगी। प्रथम दृष्टि में, उस प्रतिपादना में अकाट्य तर्क दिया गया है जो कि कारबार संबंधी सुविधा (बीमा की अत्यावश्यकता) के तर्क पर आधारित है। किन्तु हमारे सामने जो समस्या है वह यह है कि जहां उस खण्ड के अधीन अधिकार निर्वापित हो जाते हैं, वहां यदि बीमा पालिसियों के अधीन दावों के तत्परता से निपटाये जाने को अभिभावी तर्क के रूप में समझा जाता है तब उन खण्डों को, (जिनमें बीमा पालिसियों में के खण्ड आते हैं) जो कोई वाद फाइल करने के लिये समय को सीमित करते हों, आपत्तिजनक क्यों समझा जाता है? जो परि-सीमा खण्ड को लागू होता है वह किसी निर्वापन खण्ड को भी लागू होना चाहिए (और उसका विपर्यय)। बीमा संबंधी कारबार की अत्यावश्यकताएं यह मांग करती हैं कि किसी समय सीमा के पश्चात् उपचार को भी वर्जित हो जाने देना चाहिये, किन्तु विधि ऐसी नहीं है।

यदि हम सम्मान पूर्वक यह कहें कि उपरोक्त [1]प्रतिपादना (2) कुछ तकनीकी स्वरूप की है क्योंकि व्यवहार में, समय सीमा के अभित्यजन का शायद ही कभी अवसर आता है।

[1]उपर्युक्त प्रतिपादना (4) और (5) के संबंध में, संविदाओं द्वारा इस प्रकार सृजित अधिकारों के लिये अवधि नियत करने की बाबत पक्षकारों की स्वतंत्रता (तर्क के लिए) को वर्तमान स्थिति के आधार के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। परन्तु जब कोई आर्थिक न्याय और सौदा करने की असमान शक्ति के अन्य पहलुओं को, जो कि इस अध्याय में पूर्व में कथित हैं, ध्यान में रखे तो वह एक कमजोर तर्क होगा।

प्रिवी काउन्सिल का निर्णीत मामला।

3.10 [2]प्रिवी काउन्सिल के उस मामले पर भी विचार किया जाना चाहिए जो इस संबंध में कभी-कभी उद्धृत किया जाता है। उस मामले में, बीमा पालिसियों में प्रायः अन्तःस्थापित किया जाने वाला समय सीमा खण्ड असावधानीपूर्ण प्रारूपण के कारण पुनर्बीमा पालिसी में सम्मिलित किया गया था। प्रिवी काउन्सिल ने यह ठहराया कि सीमित कालावधि के पश्चात् विधिक कार्यवाहियों को प्रतिषिद करने वाला खण्ड विनिर्दिष्ट संपत्ति की प्रत्यक्षा हानि के विरुद्ध सुरक्षा के लिए एक युक्तियुक्त उपबन्ध के रूप में हो सकता है, किन्तु वह पुनर्बीमा पालिसी को शायद ही लागू हो सकेगा।

इंग्लिश विधि की सदृश्यता लागू नहीं होगी।

3.11 इस संबंध में यह इंगित करना भी सुसंगत होगा कि इंग्लैण्ड में उस अवधि की, जिसके भीतर ज्ञात होने वाली हानि के पश्चात् कार्रवाई की जा सकेगी, परिसीमा अधिरोपित करने वाला खण्ड विधिमान्य है।

प्रकटतः इंग्लिश विधि में ऐसा कोई नियम नहीं है जो संविदा [3]अधिनियम की धारा 28 के समान हो जिसके कि द्वारा वाद लाये जाने की कालावधि कम करने की संविदात्मक समयावधियों को अविधिमान्य बनाया जा सके। [4]यह कहा गया है कि (बीमा के मामलों के संबंद्ध में) इंग्लिश दृष्टिकोण में अधिक बोध्यम्यता है, विशेषतः, अग्नि-बीमा के या दुर्घटना के मामले में, जहां कारित नुकसान के बारे में, दायित्व को, जबकि मामला नवीन हो, अधिक शुद्धता के साथ मापा जा सकता है। तथापि, अधिकारों का निर्वापन करने वाले संविदात्मक खण्डों की विधिमान्यता को मान्य करने हेतु यदि यह एक अच्छा कारण है, तो वह परिसीमा खण्डों को भी लागू होना चाहिये। यदि यह धारणा कि पूर्व के मामले (निर्वापन खण्ड) में समस्त

---

1. पूर्व का पैरा 3.8।
2. होम इंश्योरेन्स कंपनी आफ न्यूयार्क विरुद्ध विक्टोरिया मान्ट्रीयल फायर इन्श्योरेन्स कंपनी (1907) ए० सी० 59 (प्रिवी काउन्सिल) जिसे पर्ल इंश्योरेन्स कंपनी विरुद्ध आत्माराम ए० आई० आर० 1960 पंजाब 236 (फुल बैंच) में आधार माना गया।
3. पर्ल इंशोरेंस कंपनी विरुद्ध आत्माराम ए० आई० आर० 1960 पंजाब 236, 239 पैरा 8 में के विचार विमर्श देखिए।
4. रूबी जनरल इंश्योरेन्स कंपनी विरुद्ध भारत बैंक ए० आई० आर० 1950 एम० पी० 250, 353।

प्रकार के दावों का अवधारण समय के बीत जाने के कारण ठीक ठीक नहीं होगा, तो परिसीमा खण्डों के बारे में भी स्थिति समान ही है ।

अमेरीकन विधि ।

3.12 यह कहा जाता है कि संयुक्त राज्य अमेरिका में, किसी कार्रवाई के जब तक कि वह हानि के पश्चात् 12 मास के भीतर प्रारंभ नहीं की जाती है, साधारण के विरुद्ध किसी पालिसी में की शर्त विधिमान्य है । वहां यह सिद्धांत है कि परिसीमा संबंधी कानून वह कालावधि विहित करता है जो युक्तियुक्त कालावधि के रूप में मानी जाती है जिससे कि उपचारों को अग्रसर करने में तत्परता सुनिश्चित की जा सके, किन्तु "उनकी भाषा में या उद्देश्य में ऐसा कुछ भी नहीं है जो पक्षकारों को किसी ऐसे अल्पतर कालावधि के लिए जिसके कि भीतर वे अपने-अपने [1]दावों का प्राख्यान करेंगे, अनुबन्ध करने से रोकता है।"।

तथापि, हम यह विचार व्यक्त करना चाहेंगे, कि अमेरिकन विधि से तुलना, इस धारणा के साथ कि वहां की स्थिति इस पैरा में दिए गए अनुसार है, किसी भी प्रकार से उपयोगी नहीं होगी । यदि किसी विधिक पद्धति में (संविदाओं में) ऐसे समयावधि खण्डों को अनुज्ञात किया जाता है, जो उपचारों को वर्जित करते हैं, तो यह तर्क विरुद्ध नहीं होगा यदि वह (संविदाओं में के) ऐसे समयावधि खण्डों को भी अनुज्ञात करे, जो मूलभूत अधिकारों को निर्वापित करते हैं । उस दशा में कोई भी असंगतता उद्भूत नहीं होगी क्योंकि संविदात्मक अनुबन्ध का कुछ भी रूप क्यों न हो, उसे विधिमान्य स्वीकार कर लिया जाएगा । भारत में (वर्तमान विधि के अधीन) स्थिति भिन्न है । किसी पक्षकार के लिए यह अनुज्ञात नहीं है कि वह संविदात्मक अनुबंध द्वारा परिसीमा कालावधि के बारे में उपबन्ध करे, किन्तु यह चिर-भोग की कालावधि के बारे में उपबन्ध कर सकता है । प्रकटतः, यह विसंगतिपूर्ण है । इसके अतिरिक्त, इस प्रकार का विभेद संविदा के पक्षकारों को इस बात के लिए प्रोत्साहित करता है कि वे इस आशय के तर्क प्रस्तुत करें कि संविदा में का विशिष्ट खण्ड एक ऐसा खण्ड है जो अधिकारों का निर्वापन करता है, या वह एक ऐसा खण्ड है जो केवल उपचार को प्रभावित करता है । वह पक्षकार जो खण्ड की विधिमान्यता की अभिपुष्टि में हितबद्ध है, पूर्व के कथन के पक्ष में तर्क देगा जबकि वह पक्षकार, जो उसकी विधिमान्यता को नकारने में हितबद्ध है, बाद के कथन के पक्ष में तक देगा । संभ्रम, कठिनाई और विवाद उद्भूत होने का कारण यह है कि यह विधि तर्क विरुद्ध और असंगत है क्योंकि वह साधारण विधि का कम अतिक्रमण करने वाले संविदात्मक अनुबंध को किए जाने की अनुज्ञा न देकर साधारण विधि का अधिक अतिक्रमण करने वाले अनुबंध को करने की अनुज्ञा दे देती है ।

समुचित पहुंच ।

3.13 पूर्व में कथित किए गए कारणों से, इस विषय के प्रति समुचित दृष्टिकोण, जहां तक भारत का संबंध है, ऐसा होना चाहिए जिससे यह सुनिश्चित हो सके कि संविदा के एक पक्षकार को विचाराधीन विषय के संबंध में अन्य पक्षकार की दया पर निर्भर न रहना पडे जो कि संविदात्मक अधिकारों के अस्तित्व में बने रहने के लिए आधारभूत स्थिति है । वास्तव में, इस धारा पर निर्णय विधि के समुच्चय का उद्भव होने के पूर्व, सन् [2]1915 में प्रकाशित भारतीय संविदा अधिनियम का भाष्य, इस विषय पर सही दृष्टिकोण को प्रतिविम्बित करता है । धारा 28 (विधिक कार्यवाहियों के अवरोधक करार) के संबंध में प्रस्तावना में विचार व्यक्त करते हुए इस भाष्य में निम्नानुसार कहा गया है :—

"Another class of void agreements consists of these by which a man is restricted from enforcing his rights by recourse to the ordinary legal tribunals. Such agreements have been discountenanced by the English Courts on the ground that the law will not allow a man to *shut himself absolutely off from the benefits of its protection, and lay himself practically* at the mercy of the person with whom he has contracted

1. सी०एफ० रिडलेशरजर विरुद्ध हर्टफोर्ट फायर इंश्योरेन्स कंपनी, (1872) 19 ला० रिपोर्ट 257, जो पर्ल इंश्योरेन्स कंपनी विरुद्ध आत्माराम ए० आई० आर० 1960 पंजाब 236 में प्रोद्धरित है ।

2. कनिंगहम एण्ड शेफर्ड, कान्ट्रेक्ट एक्ट (1915) पृष्ठ सत्रह, पैरा 40 (प्रस्तावना) ।

[शून्य करारों के अन्य वर्ग में ऐसे करार आते हैं जिनके द्वारा किसी व्यक्ति को सामान्य विधिक अधिकरणों का आश्रय लेकर अपने विधिक अधिकारों को प्रवर्तित कराने से अवरूद्ध किया जाता है । ऐसे करार इंगलिश न्यायालय द्वारा इस आधार पर अस्वीकृत किये गये हैं कि विधि किसी व्यक्ति को इस बात की अनुज्ञा नहीं देगी कि वह उसके (विधि के) द्वारा दी जाने वाली सुरक्षा के लाभों से स्वयं को आत्यन्तिक रूप से अलग कर ले और स्वयं को उस व्यक्ति की, जिससे उसने संविदा की है, दया पर पूरी तरह से छोड़ दे ।]

अध्याय 4

कार्य-पत्रक पर प्राप्त टीका-टिप्पणियां

संशोधन के पक्ष में टीका-टिप्पणियां ।

4.1 विधि के संशोधन हेतु अपनी ठोस सिफारिश हम समुचित स्थान पर देंगे । ऐसा करने के पूर्व यह सुविधाजनक होगा कि हम, इस विषय पर हमारे द्वारा प्राप्त की गई टीका-टिप्पणियों के सार को संक्षेप में कथित करें । जैसा कि [1]प्रारंभिक अध्याय में वर्णित है, हमने इस विषय पर एक कार्य-पत्रक हितबद्ध व्यक्तियों और निकायों के बीच परिचालित किया था और संविदा अधिनियम की धारा 28 का संशोधन किये जाने की आवश्यकता के बारे में विचाराधीन बिन्दु पर उनकी टीका-टिप्पणियां आमंत्रित की थी । एक अपवाद को छोड़कर (जिसके बारे में वर्तमान में विचार किया जाना है), कार्य-पत्रक पर प्राप्त समस्त टीका-टिप्पणियों में इस बात पर सहमति प्रकट की गई है कि इस रिपोर्ट में परिकल्पित किए गए आधार पर धारा 28 को संशोधित किए जाने की आवश्यकता है । यह उल्लेखनीय है कि कार्य-पत्रक का परिचालन करते समय आयोग ने यह निवेदन किया था कि टीका-टिप्पणियां 31 अक्टूबर, 1983 तक भेजी जा सकती हैं । तथापि, आयोग ने उन समस्त टीका-टिप्पणियों पर भी विचार किया है जो इस रिपोर्ट के हस्ताक्षरित किये जाने की तारीख तक प्राप्त हुई ।

टीका-टिप्पणियों का विश्लेषण ।

4.2 कार्य-पत्रक के जवाब में आयोग को चौदह उत्तर प्राप्त हुए । इनमें से पांच उच्च न्यायालयों से, छह राज्य सरकारों से और तीन व्यापारियों की संस्थाओं से हैं ।

उच्च न्यायालयों से प्राप्त टीका-टिप्पणियां ।

4.3 उन पांच उच्च न्यायालयों में से, जिन्होंने कार्य-पत्रक के जवाब में उत्तर भेजे हैं दो ने यह कथन किया है कि उन्हें कुछ भी टीका-टिप्पणी नहीं करना है शेष तीन ने यह मत अभिव्यक्त किया है कि इस [2]रिपोर्ट में परिकल्पित किए गए अनुसार उस धारा में संशोधन किए जाने की आवश्यकता है । इनमें से एक यह मानता है कि ऐसा संशोधन सार्वजनिक [3]न्याय के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अत्यधिक हितबद्ध और पूर्णतः न्यायोचित है, जबकि दूसरे ने इसे वांछनीय और वैधरूप से [4]न्यायोचित माना है ।

राज्य सरकारों से प्राप्त टीका-टिप्पणियां ।

4.4 राज्य [5]सरकारों के विधि विभागों से प्राप्त छह उत्तरों में सभी इस बात से सहमत है कि इस रिपोर्ट में परिकल्पित किए गए अनुसार धारा 28 में संशोधन किए जाने की आवश्यकता है ।

राज्य सरकारों से प्राप्त उत्तरों में से कुछ में कतिपय अन्य बिन्दु भी विचारार्थ भेजे गये हैं । हम उन अतिरिक्त बिन्दुओं पर आगामी कुछ पैराओं में विचार करेंगे ।

बीमा विधि और सामान्य वाहकों से संबंधित विधि (पश्चिम बंगाल सरकार का सुझाव) ।

4.5 प्रथमतः, पश्चिम [6]बंगाल की सरकार द्वारा प्रस्तुत बिन्दु है जिसमें यह सुझाव दिया गया है कि आर्थिक न्याय की प्रोन्नति हेतु न केवल धारा 28 ही बल्कि बीमा और सामन्य वाहक जैसी सुसंगत विधि पर भी साथ ही साथ विचार किया जाना चाहिए । हमने इस सुझाव को ध्यान में रखा है ।

---

1. पूर्व का पैरा 1.3 ।
2. विधि आयोग की नस्ती क्रमांक एफ-2(10)/83 विधि आयोग अनुक्रमांक 1, 6, 7, 9 और 12 ।
3. विधि आयोग की नस्ती क्रमांक एफ-2(10)/83 विधि आयोग अनुक्रमांक 1 ।
4. विधि आयोग की नस्ती क्रमांक एफ-2(10)/83 विधि आयोग अनुक्रमांक 6 ।
5. विधि आयोग की नस्ती क्रमांक एफ-2(10)/83 विधि आयोग अनुक्रमांक 3, 4, 5, 8, 11 और 14 ।
6. विधि आयोग की नस्ती क्रमांक एफ-2(10)/83 विधि आयोग अनुक्रमांक 3 ।

संयुक्त संविदा (मध्य-प्रदेश सरकार का सुझाव)।

4.6 मध्य प्रदेश सरकार (विधि और विधायी कार्य विभाग)[1] द्वारा एक सुझाव यह दिया गया है कि न केवल समय के प्रश्न का बल्कि संयुक्त संविदाओं से संबंधित अन्य प्रश्नों का भी विस्तार पूर्वक परीक्षण किया जाय और गरीब मुकदमेबाजों के अधिकारों की सुरक्षा हेतु विधि को यथोचित रूप से संशोधित किया जाय।

इस संदर्भ में हम यह उल्लेख करना चाहेंगे कि संविदाओं में अरूजु निबंधनों[2] का विषय विधि आयोग द्वारा विचार हेतु पूर्व में ही लिया जा चुका है और उस विषय पर एक कार्य-पत्रक टीका-टिप्पणी के लिये परिचालित किया गया है।

वादों से भिन्न विधिक कार्यवाहियों से संबंधित उपबन्ध।

4.7 अन्त में यह उल्लेख किया जा सकता है कि पंजाब सरकार (विधि और विधायी कार्य विभाग) ने उन संविदात्मक खण्डों को, जो किसी पक्षकार द्वारा 'वाद' संस्थित किए जाने में असफल रहने पर किसी (मूलभूत) अधिकार का निर्वापन करता है, अविधिमान्य करने की आवश्यकता के बारे में अपनी सम्मति अभिव्यक्त करते हुए यह और [3]सुझाव दिया है कि बाद से भिन्न अन्य विधिक कार्यवाही संस्थित करने में असफल रहने पर भी यही स्थिति होनी चाहिए। हमने इस सुझाव को स्वीकृति योग्य पाया है और उसे धारा 28 में हमारे [4]द्वारा सिफारिश किए गए संशोधन में सम्मिलित कर लिया है।

---

1. विधि आयोग नस्ती क्रमांक एफ-2 (10)/83 विधि आयोग अनुक्रमांक 5।
2. भारत के विधि आयोग का संविदाओं में के अरूजु निबंधनों पर कार्य-पत्रक।
3. विधि आयोग की नस्ती क्रमांक एफ-2 (10)/83 विधि आयोग अनुक्रमांक 11।
4. अधोलिखित पैरा 5.3 सिफारिश किए गए अनुसार धारा 28 (ग)।

अध्याय 5

सिफारिश

विधि के सुधार की आवश्यकता ।

5.1 अब हम वर्तमान विधि में आवश्यक सुधारों पर विचार करेंगे। हमारी राय में, संविदाओं में के चिरभोग खण्डों के बारे में स्थिति का प्रतिवाद न्याय, तर्क, व्यावहारिक ज्ञानव या सुविधा के आधार पर नहीं किया जा सकता। ऐसे खण्डों को स्वीकार करते समय उपभोक्ता या तो ऐसे खण्डों का संभाव्य प्रतिकूल समाघात समझ नहीं पाते या उन्हें इस कारण से उनके बारे में बलात् सम्मति देनी पड़ती है क्योंकि बड़े निगम इन दुर्भर निबंधनों के सिवाय संविदाएं करने के लिए तैयार नहीं होते। उनका सामान्य रवैया यही होता है "या तो इन्हें स्वीकार करो या बात ही छोड़ दो" और सौदेबाजी के बारे में उन्हें अच्छी शक्ति होने के कारण नैसर्गिक रूप से वे हावी हो जाते हैं। वर्तमान में, हम "संविदाओं के मानक प्ररूप" या "मानक निबंधनों" जैसे व्यापक क्षेत्रों के बारे में विचार नहीं कर रहे हैं किन्तु विचाराधीन परिमित विषय तक ही अपने विचार सीमित करने पर यह प्रतीत होगा कि वर्तमान विधिक स्थिति पर सामान्य व्यक्ति के दृष्टिकोण से गंभीर आपत्तियां की जा सकती हैं। इसके अतिरिक्त ऐसे खण्डों के कारण उन संव्यवहारों में, जो सैकड़ों व्यक्तियों द्वारा प्रतिदिन किए जाते हैं, अनिश्चितता का तत्व आ जाता है ।

वर्तमान विधि के अवगुण ।

5.2 वर्तमान विधि के अवगुणों के बारे में जो हमने पूर्ववर्ती अध्यायों में कहा है उसकी पुनरूक्ति करना अनावश्यक होगा। संक्षेप में, ऐसा कहा जा सकता है कि वर्तमान विधि, जिसमें चिरभोग खण्डों को विधिमान्य माना गया है जबकि उपचार पर रोक लगाने वाले समय सीमा खण्डों को अविधिमान्य माना गया है, मुख्यत: निम्नलिखित त्रुटियों से ग्रस्त है :–

(क) इसके कारण ऐसे व्यक्तियों को गंभीर कठिनाई होती है जो आर्थिक दृष्टि से अलाभप्रद स्थिति में होते हैं और यह आर्थिक न्याय का अतिक्रमण करती है ।

(ख) विशिष्टत:, इससे उन उपभोक्ताओं के हितों को नुकसान पहुंचता है जिनका बड़े निगमों के साथ लेनदेन है ।

(ग) यह ऐसे भेदभाव पर, जो अधिक गंभीर त्रुटियों को तो विधिमान्य बनाता है जबकि कम त्रुटियों को अविधिमान्य बनाता है, आधारित होने के कारण तर्क विरुद्ध है।

(घ) यह ऐसे विभेद पर आधारित है जो अतिसूक्ष्म तथा सूक्ष्म है जिसे व्यवहार में आसानी से प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। इसके कारण ऐसे पक्षकार, जो अपनी स्थिति को निश्चितता से आंक नहीं सकते, अपने अधिकारों को भलीभांति जान नहीं पाते और परिणामत: इसकी परिणति ऐसी मुकदमेबाजी में होती है, जो परिहार्य है।

संविदा अधिनियम की धारा 28 को संशोधित करने हेतु सिफारिश ।

5.3 इस विषय से संबंधित समस्त पहलुओं पर विचार करने पर हम यह सिफारिश करते हैं कि भारतीय संविदा अधिनियम, 1872 की धारा 28 को यथोचित रूप से संशोधित किया जाय जिससे उन संविदात्मक खण्डों को, जो विनिर्दिष्ट कालावधि के अवसान पर संविदा से उद्भूत होने वाले अधिकारों के निर्वापन हेतु आशयित हैं, अविधिमान्य बनाया जाय ।

धारा 28 के मुख्य पैरा को पुनः प्रारूपित किये जाने हेतु यहां निम्नानुसार एक सुझाव दिया जा रहा है :—

संविदा अधिनियम की पुनरीक्षित धारा 28—मुख्य पैरा—सिफारिश किए गए अनुसार:—

28. हर करार—

(क) जिससे उसका कोई पक्षकार किसी संविदा के अधीन या बारे में अपने अधिकारों को मामूली अधिकरण में प्रायिक विधिक कार्यवाहियों द्वारा प्रवर्तित कराने से आत्यंतिकतः अवरुद्ध किया जाता है, या

(ख) जो उस समय को, जिसके भीतर वह अपने अधिकारों को प्रवृत्त करा सकता है, परिसीमित करता है, या

(ग) जो उसके किसी पक्षकार के किसी संविदा के अधीन या बारे में अधिकारों को किसी विनिर्दिष्ट कालावधि के अवसान पर या किसी विनिर्दिष्ट कालावधि के भीतर कोई दावा करने या किसी वाद या विधिक कार्यवाही को संस्थित करने में असफल रहने पर निर्वापित करता है, या

(घ) जो उसके किसी पक्षकार को किसी संविदा के अधीन या बारे में, खण्ड (ग) में विनिर्दिष्ट परिस्थितियों में, किसी दायित्व से उन्मोचित करता है उस विस्तार तक शून्य है ।

(के० के० मैथ्यू)
अध्यक्ष

(ज० पी० चतुर्वेदी)
सदस्य

(डा० एम० बी० राव)
सदस्य

(पी० एम० बक्षी)
अंश-कालिक सदस्य

(वैपा० पी० सारथी)
अंश-कालिक सदस्य

(ए० के० श्रीनिवासमूर्ति)
सदस्य-सचिव

तारीख : 31-3-1984

MGIPCBE —S 7—10 M of LJ & CA/ND/84—21-3-86—250.

PLD. 92 XCVII (H)
250—1984 (DSK. IV)

विक्रेता— (1) प्रकाशन और विक्रय प्रबंधक, विधि साहित्य प्रकाशन, भारत सरकार, भारतीय विधि संस्थान भवन, भगवानदास मार्ग, नई दिल्ली-110 001.

(2) प्रकाशन-नियंत्रक, भारत सरकार, सिविल लाईन्स, दिल्ली-110 054.